



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2020; 6(1): 242-246

© 2020 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 19-11-2019

Accepted: 24-12-2019

डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री

सहायक-आचार्य, परंपरागत

संस्कृत विभाग, फेकल्टी ओफ

आर्ट्स, महाराजा सयाजीराव

विश्वविद्यालय: वड़ोदरा,

गुजरात, भारत

वैदिकसंस्कृति में सामाजिक विचार

डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री

प्रस्तावना

वेद का परिवेश सीमित नहीं है | वह देश काल की संकुचित सीमाओं से कहीं अधिक विस्तृत है | अतः वेद में प्रतिपादित संस्कृति किसी एक स्थान अथवा काल की परिधि में बंधी नहीं है, शाश्वत और सार्वभौम है और युगों तक मानव मात्र का मार्गदर्शन करने की उसमें क्षमता है | यह सुनिश्चित तथ्य है कि यदि मनुष्य आज वैदिकसंस्कृति एवं समाज के उदार एवं सर्वजन कल्याणकारी नियमों का पालन करता है तो वह भी संकटों और असंगतियों से मुक्त होकर पृथ्वी को स्वर्ग बना सकता है |

‘समाज’ शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अज् चलना धातु से बना है | दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रहकर, मिलकर एक दूसरे से सहयोग कर जीवन यापन का नाम ही समाज है | जहां यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा अथवा उतना ही अधिक वह ‘समाज’ उत्तम होगा | वेद की अनेक उक्तियों में सामञ्जस्य और तदनुरूप सामाजिकभाव स्पष्ट झलकता है | वेद का निर्देश है-

उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीळा |

दधिक्रामग्निमुशषं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्ये वः ॥ १

समान मनवाले सखा होकर जागो | यह भावना वस्तुतः पारिवारिक सौमनस्य में पनपती है | इसीलिये अथर्ववेद के एक सूक्त में कहा है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः |

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ २

Corresponding Author:

डॉ.कपिलदेव हरेकृष्ण शास्त्री

सहायक-आचार्य, परंपरागत

संस्कृत विभाग, फेकल्टी ओफ

आर्ट्स, महाराजा सयाजीराव

विश्वविद्यालय: वड़ोदरा,

गुजरात, भारत

माता-पिता तथा पुत्र, भाई-भाई, बहिन-बहिन, पति-पत्नी में पूर्ण सौमनस्य कामना व्यक्त की गयी है। परिवार से आगे चल कर ही इस सौमनस्य की परिणति पूरे समाज में होती है। वेद में सपूर्ण विश्व को एक समाज मानकर साथ चलने तथा एक साथ समान विचार करने की प्रेरणा दी गयी है जिससे सब मिलकर सुख पूर्वक रह सकें। वेद कहता है -

सं गच्छध्वम् सं वदध्वम् सं वो मनांसि
जानताम्]

देवा भागं यथा पूर्वे संज्ञानानाम् उपासते ॥³

किन्तु इस सामञ्जस्य के लिये आत्मसमर्पण आवश्यक है। आत्मसमर्पण समाज के अतिरिक्त अस्तित्व को बल और जीवन प्रदान करता है। यज्ञ भावना दान भावना इसका प्राण है। अकेला भोग करने वाला केवल पाप का ही भोग करता है एसा ऋग्वेद की उक्ति है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध
इत्स तस्य ।

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति
केवलादी ॥⁴

तैत्तरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्रेरणा दी हुई है, मनुष्य को श्रद्धा पूर्वक अपने सामर्थ्य के अनुसार दान देना चाहिए- 'श्रद्धया देयं, श्रिया देयं ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम्'। त्याग भावसे भोग की भावनावाली यह यजुर्वेद की मन्त्र सब मनुष्यों के लिए सहायता एवं उत्सर्ग की प्रेरणा देती है-

ईशावस्य मिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जिथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्
॥⁵

यदि मेरा बंधु भूखा है और मैं आनंद कर रहा हूँ तो क्या सुंदर समाज की कल्पना की जा सकती है ? यही इष्ट और पूर्त हैं जिस के लिए अग्नि के समान तेजस्वी गृहस्थ और समाज के नेता को प्रेरणा दी गई है। यही जागृति है, यही उद्बोधन है

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृही त्वमिष्टापूर्तं
संसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सदस्थे अद्युतरस्मिन् विश्वे देवा
यजमानश्च सीदत ॥⁶

सब प्रकार के यज्ञों से वायुशुद्धि द्वारा सभी छोटे-बड़े प्राणियों का उपकार होता है, ये इष्ट है। प्याऊ खुलवाना, धर्मशाला बनवाना, कुएँ खुदवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख सुविधाएं प्रदान करना ये सब पूर्त हैं। यही उदारभावना उन्नत समाज का निर्माण करती है।

समस्त समाज में बंधुत्व मित्रता की भावना वैदिकसमाज व्यवस्था का आदर्श है। इसीलिए यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते हैं-

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥⁶

तभी यह सदिच्छा प्रकट होती है कि सब दिशाएँ हमारी मित्र हो जाएँ -

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं जातादभयं परोक्षात्
।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रम्
भवन्तु ॥⁶

इस विचार के आधार पर ही वेद का आदेश है कि मनुष्य सब ओर से मनुष्य की रक्षा करे -

हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं
परिपातु विश्वतः ।^{१९}

यह है व्यापक विश्व परिवार की वैदिक विचार । इस में ऊँच-नीच का कहीं लेशमात्र भी अवकाश नहीं है । वैदिक परिवार रचना न तो जातिभेद के आधार पर थी और न वंशपरंपरा की सीमित परिधि के भीतर । समाज की घटना एक घटित शरीर धारी पुरुष के रूप की गयी है । वह अलग-अलग बिखरा हुआ नहीं था । वह एक भेदरहित संघटन था । समाज में चार वर्ण परस्पर सहयोग करने वाले पूर्ण शरीर के अपरिहार्य अंगों के समान बताए गए हैं -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहुराजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥^{२०}

इस वैदिक मन्त्र के अनुसार पूर्ण शरीर के अङ्गों के समान इन वर्णों में न कोई ऊँचा है, न कोई नीचा । शरीर के किसी अवयव को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता है । हां भिन्न-भिन्न अङ्गों के अपने अपने कार्य हैं और उनके द्वारा वे सब मिलकर शरीर का रक्षण पोषण करते हैं । जिसप्रकार मुखमण्डल में मस्तिष्क है और सभी ज्ञानेन्द्रियां हैं और वे शरीर को मार्ग दिखाने का तथा विभिन्न पदार्थों और परिस्थितियों के प्रति सचेत करने का कार्य करती हैं तथा समस्त समाज को शिक्षित करता है । भुजाएं जिसप्रकार आपत्ति आते ही, आक्रमण होते ही, प्रतिकार के लिये उठ जाती हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय का धर्म समाज की विपत्तियों तथा बाह्य आक्रमणों से रक्षा करना है । शरीर में जांघें मनुष्य को आवश्यक पदार्थ जुटाने, कृषि आदि कार्य करने में तथा उदर पोषण में सहायता करती हैं । उसी प्रकार वैश्य का कार्य इधर उधर देश विदेश में घूम कर समाज के लिये आवश्यक सामग्री जुटाना, कृषि व्यवस्था करना, पशुपालन आदि कार्य करना है । इसी प्रकार पांव के आधार पर संपूर्ण शरीर खड़ा होता है, गति करने में सक्षम होता है। उसी प्रकार

शूद्रवर्ण संपूर्ण समाज का आधार है । वह अपने शिल्प द्वारा एवं श्रम के द्वारा आवश्यक साधनों-उपकरणों को समाज के लिये उपलब्ध कराता है । इस प्रकार वैदिक वर्ण व्यवस्था है । उस के अनुसार सबकी समान आवश्यकता है सबका समान महत्व है । वेद स्पष्ट उदघोष करता है कि न तो कोई बड़ा है, न तो कोई छोटा है, ये सभी भ्राता सौभाग्य के लिये साथ साथ बढ़ते हैं -

अजेष्टासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः
सौभगाय ॥^{२१}

इसी आधार पर सब मनुष्यों के प्रति वेद का निर्देश है कि शूद्र और आर्य सबका प्रियत्व कल्याण देखें -

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥^{२२}

परमेश्वर से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब में समान रूप से शोभा या दीप्ति का आधान करने की प्रथन की गयी है, जिससे सबका समान कल्याण हो और कोई भी अपमानित न हो -

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥^{२३}

सबकी समान समृद्धि से ही समाज की समृद्धि संभव है । समाज के सभी अङ्गों के स्वस्थ रहने पर समाज उचित दिशा में प्रगति कर सकता है । इस सामुहिक समन्वय के साथ साथ व्यक्तिगत जीवन में पूर्णा के लिये भी वैदिक समाज व्यवस्था में समन्वय पर बल दिया गया है । ब्रह्मचर्य अथवा शिक्षा का महत्व अथर्ववेद के एक संपूर्ण सूक्त में प्रातिपदित है - अथर्ववेद.११.५.१-२६. ब्रह्मचारी का समाज में अक्षुण्ण तथा अत्यन्त सम्मान जनक स्थान है । ब्रह्मचारी में ही देवता समान रूप से शुभेच्छु होते हैं तथा ब्रह्मचारी का ही अनुसरण बड़े

छोटे सब करते हैं, वही आचार्य है और वही प्रजापति है | राजा भी ब्रह्मचर्य द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है -

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति |
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥^{१४}

वस्तुतः ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम या शिक्षा का महत्व बताया गया है | जीवन को पूर्ण संयम और सभ्य बनने के लिये शिक्षा के महत्व पर बल देना एक स्वस्थ, उन्नत, सामाजिक व्यवस्था का लक्षण है, क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य में पशु से भिन्न मनुष्यता के गुणों को उभारती तथा सींचती है | विद्या के अभाव में मनुष्य पशु ही रह जाता है, वास्तव में ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमों की मूल है | इस की व्यवस्था ही बिगड जायगी तो सब आश्रम और समाज बिगड जायेगा | ब्रह्मचर्याश्रम तपस्या का दूसरा नाम है-

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा
पिपति ॥^{१५}

वैदिक समाज व्यवस्था में परिश्रम करनेवाले, तपस्या करनेवाले, विद्या के इच्छुक सभी शिक्षा के अधिकारी हैं, सभी ब्रह्मचर्य में प्रवेश कर सकते हैं, अपितु सभ्य सामाजिक बनने के लिये यह आश्रम सब के लिये अनिवार्य है | इसी आधार पर आगे चलकर अनपढ व्यक्तियों को पतीत सावित्रिक तथा समाज से बहिष्कृत माना गया है | ब्रह्मचर्य में प्रवेशार्थ वेद में शूद्र या स्त्री किसी का निषेध नहीं है | वैदिक समाज व्यवस्था समन्वयात्मक है | ब्रह्मचर्य और तपस्या के पश्चात् जीवन की पूर्णता और समाज की आवश्यकता तथा उसके पोषण के लिये ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर मनुष्य के लिये विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक है | मनु महाराज का कथन है कि जिस प्रकार सभी नदी-नद समुद्र में मिलकर शान्त हो जाते हैं, उसी

प्रकार समस्त आश्रमों में भटकता प्राणी गृहस्थाश्रम में ही स्थिर होते हैं |

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् |
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥^{१६}

वेद में आदेश दिया गया है कि विवाह कर के पति-पत्नी को यहां इस घर में रहना चाहिये, अलग नहीं होना चाहिये | पुत्रों, नाती, पोतों से खेलते हुए आनन्दित होते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करना चाहिये |

इहैवस्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्रुतम् |
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नसृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥^{१७}

इसी प्रकार अथर्ववेद में निर्देश है कि पत्नी पति के प्रति शान्त, मधुर वाणी बोले 'जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्' | अथर्ववेद.३.३०.२.

यह मधुर वाणी न केवल घर के वातावरण को मधुर बनाती है, अपितु घर से बाहर कार्य करनेवाले पति को और उसके संपर्क में आनेवालों को भी प्रभावित करती है तथा कार्यक्षमता बढ़ती है मनुष्य के बाह्य जीवन में परिवार का प्रतिविम्ब पडे विना नहीं रहता | दूसरी ओर वैदिकी व्यवस्था ने घर में नव विवाहिता को पूर्ण अधिकार देकर अद्भूत संतुलन स्थापित किया है | नववधू को कहा गया है कि तू अपने श्वसुर, सास, देवर एवं ननन्द की सम्राज्ञी बन | उसे परिवार में सर्वोच्च शासक के पद पर प्रतिष्ठित की गयी है -

सम्राज्येधि श्वसुरेषु सम्राज्युत देवेषु |
ननान्दुः सम्राज्येधि सम्राज्युत श्वश्राः ॥^{१८}

इसी कारण पत्नी को ही घर बताया गया है- जायादस्तम् | गृहस्थी का केन्द्र सन्तान होती है, पति-पत्नी के अधिकांश प्रयत्न सन्तान की सुख सुविधा के लिये होते हैं | संभवतया इसीलिये पत्नी

को 'जाया' कहा गया है, वह सन्तान को जन्म देती है | उसका निर्माण करती है | वह पति की पूर्णता है | पत्नी को प्राप्त कर पति अपने को पूर्ण मानता है- 'तस्मात् जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवत्मानं मन्यते'^{१९} पति और पत्नी का हार्दिक संयोग ही वैदिक विवाह का आदर्श है, हार्दिक संयोग की यह भावना ही पति-पत्नी और परिवार में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित करती है-

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ |
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ||^{२०}

वैदिक सामाजिक व्यवस्था में घर को बहुत पूर्ण स्थान प्राप्त है | इसीलिये यजुर्वेद में प्रार्थना किया है- दुर्हन्तां दुर्याः पृथिव्याम्' पृथ्वी पर घर दृढ रहें, घरों में पूर्ण समृद्धि हो, वैभव हो | अथर्ववेद में अभिलाषा व्यक्त की गयी है कि हमारे घर मधुरवाणी से युक्त हों, वे भाग्यशाली हों, अन्न से युक्त हों, प्रमोदपूर्ण हों, तृषा रहित हों और क्षुधा रहित हों -

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः |
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ||^{२१}

वस्तुतः ऐसे घर उन्नत प्रगतिशील समाज का आदर्श है | यह आदर्श शुद्ध कर्मों द्वारा व्यसनों से दूर रह कर प्राप्त किया जा सकता है | इसीलिये वेद आदेश देता है कि- हे मनुष्य ! जुआ मत खेल, कृषि कर्म जैसा शुद्ध कर्म कर और जो धन प्राप्त हो उसमें प्रसन्न रहो | जैसा ऋग्वेद में कहा है-

अक्षैर्मा दिव्यः कृषिमित्कृष्व वित्ते रमस्व बहु
मन्यमानः ||
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे
सवितायमर्यः ||^{२२}

संदर्भ

1. ऋग्वेद.१०.१०१.१
2. अथर्ववेद.३.३०.१-७
3. ऋग्वेद.१०.१९१.२
4. ऋग्वेद.१०.११७.६
5. शु.य.४०.१.
6. शु.य.१५.५४
7. शु.य.३६.१८.
8. अथर्ववेद.१९.१५.६
9. ऋग्वेद.६.७५.१४.
10. ऋग्वेद.१०.९०.१२.
11. ऋग्वेद.५.६०.५.
12. अथर्ववेद.१९.६२,१,
13. यजुर्वेद.१८.४८
14. अथर्ववेद.११.५.१७.
15. अथर्ववेद.११.५.४.
16. मनुस्मृति.६.८९.
17. ऋग्वेद.१०.८५.४२.
18. अथर्ववेद.१४.१.४४.
19. एतरेयब्राह्मण.१.२.५.
20. ऋग्वेद.१०.८५.४७.
21. अथर्ववेद.७.६०.६.
22. ऋग्वेद.१०.३४.१३.